स्मृति

तलाश बिन धुएँ वाली चिमनी की

विनोद रायना

कैंसर से लम्बी लड़ाई के बाद विनोद रायना ने 12 सितम्बर के दिन अन्तिम साँस ली। इस अन्तिम साँस के साथ काम करने का वो तरीका, दुनिया को देखने का वो नज़रिया, लोगों को जोड़ने की एक तहज़ीब भी चली गई। साथ में चला गया शाम को बैठकर गाने-बजाने का सिलसिला और रात को बढ़िया खाना पकाने और सुबह-सुबह उम्दा कहवा बनाकर पीने का रिवाज़।

विनोद ने होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम के संगठनात्मक व शैक्षणिक पहलुओं पर काफी काम किया। इस कार्यक्रम को क्रियान्वित करने की विभिन्न चुनौतियों को समझकर एक व्यावहारिक ढाँचा और प्रक्रिया विकसित करने में विनोद की भूमिका महत्वपूर्ण रही। लगभग इसी तरह की भूमिका विनोद ने एकलव्य संस्था के गठन में भी निभाई।

अकादमिक कार्यक्रमों के साथ-साथ अन्य सरोकारों के चलते भोपाल गैस त्रासदी, नर्मदा बचाओ आन्दोलन, जन विज्ञान आन्दोलन, सांप्रदायिकता विरोधी मुहिम वगैरह में भी विनोद की गहरी रुचि थी और वह इन सबमें सक्रियता से शामिल भी रहे। जन विज्ञान और शिक्षा के मिले-जुले सरोकार के चलते विनोद ने स्रोत विज्ञान व टेक्नोलॉजी फीचर्स और चकमक बाल विज्ञान पत्रिका को भी साकार रूप दिया।

कई जन आन्दोलनों और जन संगठनों को समर्थन व वैचारिक मदद के साथ-साथ विनोद ने शिक्षा के मुद्दे पर अलग-अलग स्तर पर अपना जुड़ाव बनाए रखा। शिक्षा में मात्रात्मक और गुणात्मक सुधार उनकी प्रमुख चिन्ता बनती जा रही थी।

शिक्षा अधिकार विधेयक को विनोद ने लगभग अपने जीवन का ध्येय बनाया था। विधेयक पारित होने के बाद इसका उचित क्रियान्वयन हो सके उसकी जद्दो-जहद में विनोद जुटे रहे।

विनोद ने अपने विचारों को विविध मंचों से और लेखों के मार्फत सबके बीच खूब बाँटा। होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम के महत्वपूर्ण पहलुओं एवं चुनौतियों को रेखांकित करता उनका एक लेख प्रकाशित कर हम उन्हें याद कर रहे हैं।

होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम, या होशंगाबाद विज्ञान का जो प्रमुख नवाचार इन दिनों म.प्र. के चौदह ज़िलों में फैले ग्रामीण माध्यमिक विद्यालयों में चल रहा है, वह है गतिविधि-आधारित सिखाई। होविशिका के सन्दर्भ में इस गतिविधि-आधारित शिक्षण के भला क्या मायने हैं?

इस बात पर तो कभी कोई विवाद नहीं रहा कि सीखने-सिखाने की प्रक्रिया बाल-केन्द्रित और मस्ती-भरी होनी चाहिए मगर तानाशाहाना कतई नहीं। लेकिन स्वतंत्रता के चालीस बरस बाद भी भारतीय स्कूल मूलतः वहीं का वहीं है - रटन्त विद्या, दण्ड, अनुशासन और अध्यापक का निरंकुश दबदबा। सवाल है कि छात्र और अध्यापक के बीच की यह दूरी भला क्योंकर न पाटी जा सकी अब तक? इसे समझने के लिए हमें प्रचलित सामाजिक-राजनैतिक लोकाचार तथा अध्यापन-अध्ययन शैक्षिकी के सम्बन्धों पर एक गम्भीर नज़र डालना होगी। लोकतंत्र का अभाव, मनोवैज्ञानिक दमन, सत्ता का अप्रश्नित दब्बू स्वीकार, और कक्षा में भाषण पद्धति वाली पढ़ाई, ये सब-के-सब, व्यापक रूप से प्रबल सामाजिक व राजनैतिक मूल्यों के लक्षण हैं। इसलिए परिस्थिति को बदलना है तो कक्षा के शिक्षाशास्त्र को भी बदलना होगा, साथ

ही, पाठ्यक्रम में भी आमूलचूल परिवर्तन करना होगा। लेकिन, अधिकांश शैक्षिक-सुधार अन्ततः पाठ्यक्रम-संशोधन व पुस्तक-पुनर्लेखन तक ही महदूद यानी सीमित रहते हैं, जबकि कक्षा के शिक्षाशास्त्र का सामान्य स्थापत्य अछूता-का-अछूता ही रह जाता है।

अब यह जो विज्ञान शिक्षण है, स्वतः ही गतिविधि पद्धति हेतु प्रस्तुत होता है। देखा जाए तो विज्ञान है ही एक प्रयोगाश्रित अनुशासन; सिद्धान्त नहीं चलेंगे जब तक कि उनका कोई अकाट्य प्रयोगात्मक प्रमाण न मिल जाए। इसलिए सहजबुद्धि तो यही कहती है कि विज्ञान प्रयोगों व गतिविधियों के ज़रिए पढ़ाया जाए ताकि सीखने वाला न सिर्फ सार्थक ढंग से वैज्ञानिक तथ्य व ज्ञान ग्रहण करे, बल्कि एक विवेचनात्मक और तर्कसंगत तरीके से समस्त ज्ञान की प्राप्ति और उसके विश्लेषण की समूची प्रक्रिया की गहराई भी वह महसूस कर सके। यह तमाम प्रक्रिया, विज्ञान शिक्षण की हदों को भी लाँघ जाती है, कारण कि विश्लेषणात्मक क्षमता का प्रेरक तत्व अपने भीतर जिज्ञासु मन के समग्र विकास की सम्भावनाएँ समेटे रहता है।

हो. वि. शि. कार्यक्रम

गतिविधि आधारित पद्धति की व्यावहारिक बुनावट, वृहत्तर सामाजिक-राजनैतिक ढाँचे से बँधी कई प्रबल कक्षा-परम्पराओं का विश्लेषण करने में सहायक होती है। अध्यापन की मूल भाषणोन्मुखी पद्धति के स्वाभाविक कक्षा-शिल्प में होती हैं, 'सावधान' की मुद्रा में बैठे युवा मनों की कतारें, आतंकित कर देने वाले 'सुई-पटक' सन्नाटे में फैली हुईं। यह वास्तु-शिल्प अपने आप में ही अध्यापक के दबदबे का एक शक्तिशाली प्रदर्शन होता है, चुनांचे उसका खौफ वहीं-कहीं मँडराता रहता है। जबकि गतिविधि आधारित तरीका, सामूहिक कोशिश, कक्षा में यहाँ-से-वहाँ हलचल, इधर-उधर लगातार बातचीत की माँग करता है, जिसके चलते सीखने-सिखाने की प्रक्रिया के सामन्तवादी सुर का टूटना सम्भव हो पाता है।

होविशिका में गतिविधि पूरी तरह से प्रयोग-आधारित नहीं होती। हालाँकि कार्यक्रम के एक बड़े हिस्से में प्रयोगों की उपस्थिति दर्ज़ होती है, पर व्यापक अर्थों में गतिविधि से आशय यहाँ मानसिक, खेल-आधारित और परस्पर-वार्तालाप का होना भी है। मगर इस तरह की पद्धति में कुछ सामग्री, कुछ औज़ार, कुछ उपकरण दरकार हैं। सो होविशिका के सामने हमेशा यह प्रश्न रहा कि ये सब आएँ तो आएँ कहाँ से? लेकिन शुरू से ही हमने भी हार न मानने की ठानी, बावजूद इसके कि हमारे अधिकारी, हमारे शिक्षाविद अपने निराशावादी वक्तव्य देते रहे कि "भारत जैसा एक गरीब और विकासशील देश अपने ग्रामीण स्कूलों में विज्ञान-किट जैसी 'विलासिता' कतई वहन नहीं कर सकता।" आज भी हम हैरत में उनके इस नैराश्य के आधार की तलाश

में मुब्तिला हैं। शायद साइंस-किट कहते ही हमारे सामने जो तस्वीर खिंच जाती है, वह है – महँगी-महँगी प्रयोगशालाएँ, पलकें झपकाते डिजिटल बल्ब और हमारे विज्ञान संस्थानों और मीडिया द्वारा रचा-बुना और परोसा गया वह तमाम तामझाम।

अत्यन्त दुख की बात है कि होविशिका के कोई सोलह बरस बाद भी अधिकारियों और शिक्षाविदों के एक बड़े तबके में इस तरह की घिसी-पिटी धारणाएँ सिरे से व्याप्त हैं। ऐसी सोच हमेशा विज्ञान के प्रति अज्ञान, खासकर प्रारम्भिक स्कूलों में कारगर उसके व्यावहारिक तरीके के प्रति अनभिज्ञता को ही उद्घाटित करती है। तुर्रा यह कि यह अज्ञान नाना प्रकार से अभिव्यक्त होता आता है। अब इसी कथन को ही लीजिएः 'विज्ञान में सटीकता और यथार्थता ही सब कुछ है।' इसलिए उपकरण और औज़ार 'सही' होने चाहिए, यानी कि वे 'शर्तिया' महँगे होंगे। यही नहीं, बिना कुछ सोचे-समझे यह भी मान लिया जाता है कि बक्सा-बन्द यंत्र ही कमोबेश विज्ञान-उपकरण होते हैं, इनके साथ कुछ-कुछ करते रहना ही विज्ञान है, और खोल-खाल कर इनके अन्तस में झाँकना, इन्हें बर्बाद करना है, सो वर्जित है। और इसके उलट, साधारण कबाड़-कबूड़ से जुगाड़ कर उपकरण या औज़ार बनाना एक शगल या खेल भर हो सकता है, असल विज्ञान तो बिलकुल नहीं।

निरपेक्ष बोध बनाम सापेक्ष सवाल

होविशिका की 'बाल-वैज्ञानिक' में मापन के अध्यायों में ऐसे ही कुछ विचारों को सवालों के कटघरे में लाया गया है। उदाहरण के लिए यथार्थता और सटीकता को ही लीजिए। प्रशिक्षण कार्यशालाओं में शिक्षकों को अपने-अपने हिसाब से एक ही लम्बाई, जैसे कि क्लासरूम की लम्बाई नापकर उसे कागज़ के एक टुकड़े पर दर्ज़ करने को कहा जाता है। इसके बाद उन सबके द्वारा दर्ज़ लम्बाई को एक-साथ ब्लैकबोर्ड पर लिखा जाता है। अपने द्वारा दर्ज़ अवलोकनों के बीच के अन्तर को लेकर शिक्षक हक्के-बक्के रह जाते हैं, और शुरू हो जाती है उनके बीच एक बहस, उनके द्वारा किए गए मापन में आई विशाल विविधता के कारणों को लेकर। बहस से सन्तुष्ट हो चुकने के बाद जुट जाते हैं वे मापने उसी लम्बाई को एक बार फिर, यही पाने कि हालाँकि पहले से कमतर, पर अन्तर तो फिर भी कायम बना रहता है। चुनांचे वे बहुत असहज महसूस करते हैं; आखिर उनकी यह धारणा कि विज्ञान एकदम 'सही-सही' होता है अब खिसकती जो दिखाई पड़ने लगती है, क्योंकि उन्हें कमरे की लम्बाई को एकदम सही-सही नापना अब असम्भव लगता है। बस यहीं से शुरू हो जाती है, गर्मागर्म चाय के साथ विज्ञान में 'एकदम सहीपन' की धारणा पर गर्मागर्म बहस; यही नहीं वास्तविक नपाई के आँकड़ों के एक समुच्चय

(सेट) से कमरे की लम्बाई को तय करने में साँख्यिकी के उपयोग की अपरिहार्यता जैसे मसले भी उनकी इस बहस की जद में आ जाते हैं।

यही चीज़ फिर बच्चों को बताई जाती है, जिसके चलते नापते समय पैमाने के इस्तेमाल की प्रेरणा मिलती है और नतीजतन, यह ज़रूरी कौशल लगातार पक्का होता चलता है। इस प्रकार असल अभ्यास के द्वारा छात्र और शिक्षक यह जान जाते हैं कि आप चाहे जितने सावधान, सतर्क रहें, बारम्बार नपाई के दौरान कुछ अन्तर तो मिलेंगे ही, अन्ततः जो मापन-यंत्र के लघुतम मापांक (लीस्ट काउण्ट) पर निर्भर करेंगे। तो अब मुद्दा जो है एक निरपेक्ष बोध न बनकर 'कितना सही?' जैसा एक सापेक्ष सवाल बन जाता है। बढ़ई-सुतार के लिए कुछ मि.मी. का सहीपन ज़रूरी होता है, जबकि सड़क की लम्बाई नापने में एकाध मीटर इधर-उधर हो जाना चलता है; सामान्य उद्देश्यों के लिए ऐसी बड़ी नपाइयों में मि.मी. में शुद्धता पर ज़ोर देना, किसी भी हिसाब से विज्ञान नहीं है, हाँ निरी मूर्खता ज़रूर है।

नवाचार में अध्यापकों की भूमिका

अब यह सारी नपाई बच्चों की आम 15 से.मी. वाली प्लास्टिक की स्केल और आधा मीटर लम्बी लकड़ी की एक छड़ से की जा सकती है। नापने की ऐसी समझ बनाने के हिसाब से स्कूली विज्ञान के लिए ज़रूरी समझे जाने वाले वर्नियर कैलिपर्स, स्क्रू गेज जैसे महँगे यंत्रों का सहारा लेना बेफिज़ूल की बात है। हम ऐसा नहीं कह रहे कि बच्चों को इस तरह के मापन-यंत्रों का कभी अनुभव नहीं कराना चाहिए। हमारा आशय सिर्फ इतना है कि किसी कारण इन यंत्रों के उपलब्ध न होने की सूरत में भी वैकल्पिक तरीकों से नपाई के मायने की एक गहरी समझ बनाई जा सकती है। देखा जाए तो, गहरे पानी पैठे बिना, केवल इन औज़ारों का इस्तेमाल भर, बस एक सतही बेगार ही है।

इस किट का एक और नवाचार है, किसी चीज़ के बहुत-से इस्तेमाल। इसका एक बढ़िया उदाहरण है, प्लास्टिक क्यूब का इस्तेमाल। एक से.मी. के इस क्यूब की लागत लगभग दस पैसे पड़ती है, और क्षेत्रफल तथा आयतन की अवधारणाएँ समझने के लिए इसका खूब इस्तेमाल होता है। और इसका घनत्व पानी के घनत्व के करीब-करीब बराबर होने के कारण इसका वज़न लगभग एक ग्राम होने की वजह से बहुत-से तौलने से सम्बन्धित प्रयोगों में इसका इस्तेमाल होता है। और फिर, संयोग और सम्भाविता जैसे मज़ेदार अध्याय में यही क्यूब एक पाँसे की तरह उपयोग में आता है।

बार-बार बतलाया जाने वाला एक उदाहरण है, बबूल के काँटे का। शुरू-शुरू में, एक रुपए की कीमत वाली स्टील की एक डिसेक्टिंग सुई जैविकी

के प्रयोगों की किट का हिस्सा होती थी। आगे चलकर, एक स्कूली अध्यापक ने मुफ्त में हर जगह उपलब्ध एक स्थानीय जुगाड़ के बतौर बबूल के काँटे का इस्तेमाल किया। बस तब से उस स्टील की सुई को हटा उसकी जगह आ बैठा यह बबूल का काँटा, जो अब छेद करने जैसे कामों में बहुतायत से इस्तेमाल होता है।

जिस माहौल में नवाचार, एवजी चीज़ें और नए विचार लगातार खोजे जाते रहे हैं, ऐसे माहौल ने सुनिश्चित किया कि बहुत-सी नई बातें, नई चीज़ें, बच्चों व अध्यापकों की तरफ से आएँ। दरअसल, ग्रामीण स्कूल अध्यापकों के द्वारा इतनी अधिक मात्रा में नवाचार सुझाए गए हैं कि उन्होंने कार्यक्रम के स्रोत वैज्ञानिकों के लिए प्रेरणा का काम किया है। ये स्रोत वैज्ञानिक टीआइएफआर, दिल्ली विश्व विद्यालय और आइआइटी जैसे संस्थानों से आते हैं। पुरानी बॉल-पेन रीफिल एक और नवाचारी उदाहरण है। इस्तेमाल के बाद फेंक दिया जाने वाला यह आइटम हर स्कूल में मिल जाता है, बच्चों के पास से, शिक्षकों के पास। चपटी पेपर क्लिप के साथ मिलकर यह आइटम नाना प्रकार के खिलौनों, खेलों और उपकरणों में धुरी बनने का काम बखूबी करता है। इसी तरह मोमबत्ती की लौ से गर्म करके पीठ से पीठ लगाकर जुड़े साधारण-से बटन, बहुउपयोगी चक्के-घिरनी का काम भी करते हैं और मशीनों पर हमारे अध्याय का कच्चा माल भी बनते हैं।

शिक्षकों और बच्चों ने जब टाइट्रेशन के प्रयोगों में फिनॉफ्थलीन की जगह वैक्यूलॅक्स जैसी दस्तावर गोलियों का इस्तेमाल सूचक के बतौर किया तो उनकी इस पटुता ने कई रसायनज्ञों का मन मोह लिया। इसके चलते शिक्षकों, बच्चों और स्रोत व्यक्तियों की संगत में मैदानी गतिविधियों को और भी बल मिला, और जापाकुसुम (हिबिस्कस), गेंदे इत्यादि के फूलों की पत्तियों को सूचक के बतौर इस्तेमाल करने के प्रयोग चल निकले, क्योंकि इनमें से बहुत-सी पत्तियाँ उन पर अम्ल या क्षार डालने पर अपना रंग बदलती हैं।

ऐसे नवाचारों के अलावा, होविशिका का सीधा-सादा शिक्षाशास्त्र है, परिभ्रमण यानी फील्ड विज़िट। मिट्टी, फसलों, कीटों, कीड़ों, फूलों, मच्छरों और मेंढकों के जीवन-चक्र जैसी चीज़ों की जानकारी जुटाने के लिए बस दो ही चीज़ें दरकार हैं। एक तो दोस्ताना मार्गदर्शक, जो शिक्षक भी हो सकता है, स्थानीय पटवारी भी हो सकता है तो ग्राम सेवक या कोई स्वास्थ्यकर्मी भी। दूसरी चीज़, सच्चाई की यह स्वीकृति कि कक्षा की चार दीवारों (अगर वे हैं तो) के बाहर ही, सीखने की अधिक उपजाऊ और पर्यावरण-स्नेही परिस्थितियाँ उपलब्ध हैं। बच्चों के चेहरों पर खुशी, जोश और आज़ादी का झूमता-लहराता भाव कितना छुतहा (infectious) होता है न!

अक्सर 'विशेषज्ञ पार्टी' की आलोचना होती है कि अधिक-से-अधिक यह सब एक पिछड़ा विज्ञान ही है, बस। कहते हैं, कि इस तरह बच्चों को खस्ताहाल देहाती माहौल में कबाड़-से-जुगाड़ तक महदूद रखने के चलते वे अन्तरिक्ष-यानों, परमाणु-टेक्नॉलॉजी, जलती-बुझती रोशनी वाले यंत्रों, कम्प्यूटरों से सजे-धजे 'आधुनिक' विज्ञान की झाँकी से महरूम रह जाएँगे। इस तरह की आलोचना अक्सर यूँ बयाँ होती है, "उधर आदमी चांद पर बसने जा रहा है, इधर आप यहाँ इन्हें बबूल के काँटे इनायत कर रहे हैं।" बहुत चिन्ता का विषय है, कि 'अच्छे' विज्ञान का ही नहीं, समूची शिक्षा का नाता, देश के चन्द स्कूलों में कम्प्यूटरों और वीडियो की आवक से जुड़ चला है; यह सोच कि विज्ञान या किसी भी प्रकार के सीखने का मतलब है खोजना, जिज्ञासु होना, करू होना, कल्पनाशील होना, भाग लेना, शारीरिक और मानसिक कौशल अर्जित करना, अब अबूझ और परायी लगने और पराया कर देने वाली टेक्नॉलॉजी की लकदक तामझाम के पैरों तले रौंदी जाने लगी है। वैसे अगर यही मशीनें, यही यंत्र, बड़े सलीके से एक सार्थक शैक्षिक कार्यक्रम में पिरोये गए होते, तो वे अपनी एक उद्देश्यपूर्ण भूमिका निभा रहे होते।

चलिए, अब खर्चे की बात करें। औसतन 40 बच्चे प्रति कक्षा के हिसाब से एक स्कूल की छठी, सातवीं और आठवीं कक्षा के कुल जमा 120 बच्चों के लिए होविशिका किट की शुरुआती लागत 1,500 रुपए से भी कम की बैठती है, यानी 12 रुपए प्रति छात्र। टूट-फूट और किट-क्षतिपूर्ति का खर्चा बैठता है यही कोई सवा रुपया प्रति छात्र। ये कोई अटकल नहीं है बल्कि सोलह सालों के ठोस अनुभव से उपजे आँकड़े हैं। इस स्तर के निवेश की सम्भावनाएँ निश्चित ही, राज्य सरकार के बजट में हैं। और वैसे भी, ये हर बच्चे का अधिकार हैं।

सवाल अभी भी हैं

यहाँ यह बताना भी ठीक होगा कि ऐसा नहीं कि हमारा हर इक जुगाड़ कामयाब रहा। अब उस पेचीदा चिमनी का उदाहरण ही ले लें, जिसे जुगाड़ने की फिराक में हमने कई बरस बिताए हैं। बात यह है कि रसायन शास्त्र के कई सारे प्रयोगों में खास तौर पर एक अच्छे ऊष्मा स्रोत की ज़रूरत हमेशा बनी रहती है। अब आप पूछेंगे कि यहाँ 'अच्छे' से आशय क्या है? सो अच्छा यानी कि (नीली लौ वाला) एक ऐसा स्रोत जो टेस्ट ट्यूब में भरे द्रव को कुछ ही मिनटों में उबाल दे, और टेस्ट ट्यूब की सतह पर अपनी कालिख भी न पोते ताकि हम उसी साफ सतह के आर-पार अपने अवलोकन भी ले सकें। ख्वाहिशें अभी और भी हैं! हम यह भी चाहते हैं कि ये सब जुगाड़ कोई तीन-पाँच रुपए में फिट हो जाएँ और ईंधन भी इसमें ऐसा लगे

जो गाँव ही में आसानी से जुगड़ जाता हो। यानी कि स्प्रिट लैम्प तो नहीं चलेगा। कारण कि एक तो स्प्रिट (मिथाइल अल्कोहल) महँगी, दूजे लाइसेंस के द्वारा ही मिलने के चलते, गाँव में इसका मिलना भी दूभर। गाँव में मिलने वाला इकलौता हाइड्रोकार्बन है घासलेट, यानी कि केरोसीन, मिट्टी का तेल। आज भी अविद्युतीकृत गाँवों में मिट्टी के तेल से जलने वाली चिमनियों से घर-बार रोशन होते हैं।

सो हमने भी इन चिमनियों का इस्तेमाल अपने प्रयोगों में किया। लेकिन दिक्कत यह है कि ये होती हैं कालिख भरी, और कर देती हैं बर्तन या पात्र को पल में काला-काला। यही नहीं, किसी कमरे में एक-साथ जलने रख दी गईं कुछ चिमनियाँ जल्द ही उस कमरे को धुआँ-धुआँ कर भर देती हैं। सालों से हम इनकी लौ को किसी जुगाड़ के ज़रिए नीली और बेधुआँ करने की जुगत में लगे हैं। ढेरों आइडिया मिले, पर एक भी आइडिया ऐसा न मिला जो जीवन न सही, इस चिमनी की लौ ही बदल डालता। तमाम रिसर्च पत्रिकाएँ खंगाल डालीं, कई इंजीनियरों और स्थानीय कारीगरों ने अपने दिमाग

खपा डाले। हवा, ईन्धन और ताप के पैरामीटर अदल-बदल देख डाले, पर बात कुछ बनी नहीं। इतना ज़रूर हुआ कि नाइजीरिया जैसे दूरदराज़ के देशों में भी हमारी इस निर्धूम चिमनी को लेकर चल रही माथापच्ची के बारे में जाना हमने।

लगता है, भारत का ही नहीं, सारी विकासशील दुनिया का ग्रामीण स्कूल विज्ञान एक सस्ती, मगर धुआँ रहित, चिमनी की तलाश में निकल पड़ा है।

अँग्रेज़ी से अनुवादः मनोहर नोतानीः शिक्षा से स्नातकोत्तर इंजीनियर। पिछले 20 वर्षों से अनुवाद व सम्पादन उद्यम से स्वतंत्र रूप से जुड़े हैं। भोपाल में रहते हैं।
लेख का शुरुआती परिचय 'स्रोत फीचर्स' पर आधारित है।
यह लेख कपार्ट (CAPART), दिल्ली द्वारा प्रकाशित पत्रिका 'मूविंग टेक्नोलॉजी' में 1989 में प्रकाशित हुआ था।